भारतीय दर्शन : चिन्तन की रूपरेखा

पं० देव कुमार जैन
दर्शनाचार्य, साहित्यरत्न
खजांची मोहल्ला
बीकानेर

दर्शन का अर्थ

दर्शन का सामान्य अर्थ है, देखना और यह अर्थ सर्वजन प्रसिद्ध है। किन्तु प्रत्येक शब्द का व्यंजनात्मक एक विशिष्ट अर्थ और भी हुआ करता है। उसमें अर्थ-गाम्भीर्य भी अधिक होता है। यह लोक में प्रामाणिक भी माना जाता है। दर्शन शब्द की भी यही स्थिति है। वह अपने अन्तस् में विशेष और गम्भीर आशय गर्भित किये हुए है—सत्य का साक्षात्कार करना। क्योंकि लोक जीवन में प्रत्येक प्रवृत्ति की सत्यता का निर्धारण देखने वाले के कथन से किया जाता है, कानों सुनी बात अप्रामाणिक भी हो सकती है। दृश्य और अदृश्य, भौतिक व आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों के लिये भी यही जानना चाहिये। अतएव यह सिद्ध हुआ कि सत्य का साक्षात्कार करना दर्शन शब्द का वाच्य व वास्तविक अर्थ है।

सत्य का साक्षात्कार क्या है ?

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि सत्य क्या है और उसके साक्षात्कार का अभिप्राय क्या है ?

प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सत्यवादी मानता है। अपने द्वारा प्रतिपादित अनुभूत के प्रति इतना आग्रहशील हो जाता है कि दूसरे के कथन का अपलाप करने में भी नहीं झिझकता है। इसको जन्मान्धों के हस्ति परीक्षण के उदाहरण से समझा जा सकता है। वे सभी हाथी के एक-एक अंग को समस्त हाथी मान रहे थे। समग्रता की दृष्टि से उनका कथन सत्य नहीं है। अतएव यह आशय हुआ कि सत्य वह है जो पूर्ण हो और पूर्ण होकर यथार्थ रूप से प्रतीत हो; तथा साक्षात्कार का अभिप्राय होगा कि जिसमें सन्देह, विपर्यय, मतभेद, भ्रम आदि न हों।

सत्य-साक्षात्कार में भ्रान्ति क्यों ?

सत्य को जानने और समझने की वृत्ति मनुष्य मात्र में साहजिक है। साधारण—असाधारण सभी जन सत्य के उपासक हैं, सत्य का साक्षात्कार करने की साधना में तल्लीन रहते हैं। परन्तु सत्यान्वेषण, सत्य-निरूपण और सत्य-प्रकाशन की पद्धति सबकी अपनी-अपनी होने से भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। इसका पहला कारण है उनका एक-पक्षीय विचार, जो सत्यांश तो हो सकता है, किन्तु संपूर्णता को स्पर्श

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करता है। जिससे वे सभी पूर्ण सत्य का भी साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं। आचार्य सिद्धसेन का निम्नोक्त कथन समग्र स्थिति स्पष्ट कर देता है।

"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुन्ति नयवाया।"

—सन्मतितर्क ३/३७

अर्थात् जितने भी वस्तु स्वरूप के प्ररूपक कथन हैं, ये एक-एक सत्यांश के बोधक हैं। सत्यांशों का ग्रहण करना उपादेय तो है, लेकिन किसी एक विशिष्ट प्रणाली को ग्रहण करने से समग्र सत्य को प्राप्त नहीं किया जाता है और अपने मान्य सत्य का भी निर्णय नहीं हो पाता है। दोनों के आंशिक व अपूर्ण निर्णय से भ्रम अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

भ्रम उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता है। उन अनन्त धर्मों की सत्ता की स्वीकृति के लिए प्रमाण की जरूरत नहीं है। ये अनन्त धर्म ही वस्तु का स्वरूप है। उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती है। वस्तु की इस स्थिति को सभी विचारकों ने स्वीकार किया है—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'

—धर्मकीर्ति: प्रमाणवार्तिक २/२१

ये सभी धर्म स्व-पर के द्वारा विद्यमानता अविद्यमानता का बोध कराते हैं। यथाप्रसंग मुख्य-गौण का भी उपचार करना पड़ता है। इसलिए उन अनन्त धर्मों को जानना कठिन नहीं है। वे सभी चिंतन के विषय बनते हैं। ज्ञान के द्वारा जाने भी जाते हैं। किन्तु शब्दों द्वारा एक साथ एक समय में उनका कथन नहीं किया जा सकता है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भी एक समय में वस्तु के एक धर्म का कथन, वर्णन, प्रतिपादन करते हैं। उस स्थिति में यथार्थता को नहीं समझने वाले अपने-अपने चिन्तन के प्रति कदाग्रही बन जाते हैं। कदाग्रह से वस्तु स्वरूप में तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु विचारकों के विचार अवश्य विकृत होते हैं।

कदाग्रह की उत्पत्ति का कारण

विकृति का कारण कदाग्रह है। अतः यहाँ कदाग्रह की उत्पत्ति के कारण का भी विचार कर लें।

वस्तु-विचार की परस्पर भिन्न मुख्य दो दृष्टियाँ हैं—१. सामान्यगामिनी और २. विशेषगामिनी। सामान्यगामिनी धारा वस्तुमात्र में समानता ही समानता और विशेषगामिनी असमानता असमानता ही देखती है। इन दोनों धाराओं का अस्तित्व परस्पराश्रित है और वस्तु का स्वभाव दोनों धाराओं का समन्वित पिंड है। ये दोनों धारायें स्वानुभव के अन्तिम निष्कर्ष रूप में वस्तु के शुद्ध स्वरूप पर पहुँचती हैं, लेकिन दोनों कथन शैली की भिन्नता के कारण आपस में विरोधी होकर अपने आप तक सीमित रहती हैं और उसके आधार पर परस्पर विरुद्ध अनेक विचारधारायें उत्पन्न होने से ये विचारधारायें अलग-अलग दर्शन नाम से प्रसिद्ध हो जाती हैं।

सामान्यतः दर्शन कितने ?

यद्यपि विश्व के मानवमात्र के चिन्तन का आधार उक्त दो धारायें होने से दर्शन के सामान्यतः दो भेद हैं। किन्तु पश्चिम दृश्यमान विश्व का विचार करने वाला भौतिकवादी है। यदि किसी ने लीक से हटकर विचार किया तो हत्या करने से भी नहीं चूका। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को इसलिए विष देकर मार दिया था कि उसने भौतिकवादी विचारों का विरोध किया था और दूसरे दार्शनिक अफलातू (प्लेटो) को उसके ही भक्त शिष्य ने गुलाम बनाकर सरे बाजार में बेच दिया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु पूर्व और मुख्य रूप से भारत में तत्वों के अन्वेषण की प्रवृत्ति सुदूर अतीतकाल से है। इस प्रवृत्ति के दो रूप हैं—प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक। प्रज्ञा द्वारा तत्वों का विवेचन और तर्क द्वारा तत्वों का समीक्षण किया जाता है। इन दोनों का एक मात्र लक्ष्य है—आत्मानं-विद्धि, आत्मदर्शन, जो परोक्ष न होकर अपरोक्ष—प्रत्यक्ष हो। आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होना ही दर्शन का प्रयोजन है।

अतएव अब भारतीय दर्शन के मुख्य भेदों का संकेत करके उनके चिन्तन का विचार करते हैं।

पूर्व में यह बताया है कि चिन्तन के प्ररूपक जितने कथन हैं, उतने ही दर्शन हो सकते हैं। अतः हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि दर्शन के अनन्त प्रभेद हैं। फिर भी उन अनन्त भेदों में पाई जाने वाली आंशिक समानताओं के आधार पर आगमों में पर-समय के रूप में विस्तार से ३६३ (तीन सौ त्रेसठ) भेद गिनाये हैं। इन भेदों को भी क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी इन चार में समाहित करके ३६३ भेदों में से १८० क्रियावादी के, ८४ अक्रियावादी के, ६७ अज्ञान वादी के और ३२ विनयवादी के भेद बताये गये हैं।

इसी तरह वैदिक ऋषियों द्वारा भी दर्शनों की संख्या व नाम निश्चित किये जाने के प्रयत्न हुए हैं। पुराणों में न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और लोकायत यह दर्शनों के नाम देखने में आते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा वैदिक दर्शनों के रूप में माने जाने लगे और मीमांसा के कर्म व ज्ञान यह दो भेद हो गए। जो क्रमशः पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वेदाश्रित यह छह भेद भी स्वयं वैदिकों ने स्वीकार नहीं किये। यही कारण है कि वाचस्पति मिश्र ने वैशेषिक दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शन-भेदों की अपनी ग्रन्थों में व्याख्या की तथा वैशेषिक की पृथक् व्याख्या इसलिये नहीं की कि उसके तत्वों का विवेचन न्यायदर्शन में हो जाता है।

माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह ग्रंथ में सोलह दर्शनों के नाम गिनाकर उनकी व्याख्या की है। उनमें वेदाश्रित दर्शन-भेदों के साथ अवैदिक जैन, बौद्ध व चार्वाक दर्शनों का ग्रहण किया है।

माधव सरस्वती के सर्वदर्शन कौमुदी ग्रंथानुसार योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, नैयायिक और वैशेषिक यह छह वेदाश्रित दर्शन हैं तथा अवैदिक दर्शन के बौद्ध, चार्वाक व आर्हत यह तीन भेद हैं।

इसी प्रकार से अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से दर्शन-भेदों व उनके नामों का उल्लेख किया है। उन सबका परिचय स्वतन्त्र लेख का विषय है।

अतः प्रकृत में उन्हीं दर्शन-नामों का संकेत करते हैं, जो वर्तमान में प्रसिद्ध हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

१. जैन २. बौद्ध ३. सांख्य ४. नैयायिक ५. वैशेषिक ६. जैमिनीय (मीमांसा)।

ये दर्शन दृश्य-अदृश्य, लोक-परलोक, जीव आदि का अस्तित्व स्वीकार करने वाले होने से आस्तिकवादी के रूप में प्रख्यात हैं और जीव का अस्तित्व नहीं मानने से चार्वाक नास्तिकवादी कहलाता है। इसीलिए विद्वानों ने उसे दर्शन के रूप में तो स्वीकार नहीं किया किन्तु दृष्टि को समझने के लिये उसकी दलीलों का संग्रह कर दिया।

भारतीय दर्शनों की चिंतन प्रणालियाँ

भारतीय दर्शन के उक्त छह भेद प्रायः सर्वमान्य हैं। प्रत्येक दर्शन के समर्थ आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनकी तात्विक व चिन्तन दृष्टि का जो विस्तार से वर्णन किया है, उसकी रूपरेखा का यहाँ उल्लेख करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह दर्शन विश्व की संरचना, विकास, विनाश और व्यवस्था का आधार परस्पर विरोधी गुण-धर्मोंवाले जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन, जड़) इन दो तत्वों को स्वीकार करता है। इन दोनों तत्वों में से न चेतन तत्व निष्क्रिय है और न अचेतन तत्व सक्रिय है। दोनों का आरोपित सत्ता से नहीं किन्तु अपने-अपने गुणधर्म, स्वभाव से अस्तित्व है, इनमें अपनी-अपनी स्थिति रूप से परिवर्तन होते रहने पर भी नित्यत्व हैं। ये न तो सर्वथा नित्य हैं और न सर्वथा अनित्य ही। उनमें वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनेक गुण विद्यमान रहते हैं।

जीव और अजीव तत्वों में से अजीव तत्व के १. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशस्तिकाय ४. पुद्गलास्तिकाय और ५. काल यह पाँच भेद हैं। जीव का कोई भेद नहीं है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. **धर्मास्तिकाय**—यह जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया में सहायक द्रव्य हैं।

२. **अधर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहयोगी कारण रूप द्रव्य।

३. **आकाशस्तिकाय**—सभी पदार्थों को आश्रय, आधार पर देने रूप गुण वाला द्रव्य।

४. **पुद्गलास्तिकाय**—जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण पाये जाएँ, वह पुद्गल द्रव्य हैं।

५. **काल**—समस्त द्रव्यों के वर्तना, परिणमन आदि के सामान्य कारण को काल कहते हैं।

६. **जीवास्तिकाय**—जिसमें चेतना शक्ति हो। इन्द्रिय, बल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों से जो जीता है, वह जीव है।

इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होकर अस्तित्व वाले होने से अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं और काल द्रव्य सिर्फ एक प्रदेशी होने से अस्ति द्रव्य है, बहुप्रदेशी न होने से अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

यही छह द्रव्य लोकव्यवस्था के नियामक हैं। इनके सिवाय लोक में अन्य कुछ नहीं है।

द्रव्य का लक्षण सत् है, सत् उसको कहते हैं जिसमें उत्पाद (नवीन पर्याय, अवस्था का उत्पन्न होना) व्यय (पूर्वपर्याय का नाश होना) और ध्रौव्य-रूपता (उत्पाद और व्यय होते रहने पर भी द्रव्य का अपने मूल स्वभाव में स्थिर रहना) हो।

द्रव्य के उक्त लक्षण का तात्पर्य यह है कि सत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। उसकी पूर्व व्यय और उत्तर उत्पाद की धारा अनादि अनन्त है, कभी विच्छिन्न नहीं होती है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्य द्रव्य का स्वभाव है, मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करते रहना चाहिए और मूल स्वभाव को न छोड़कर परिणत होते रहना चाहिए। मगर ये परिणमन सदृश, विसदृश एक-दूसरे के निमित्त से भी और स्वतः भी होते रहते हैं। परिवर्तन कितना भी हो जाये किन्तु द्रव्य की सत्ता कभी नष्ट नहीं होती है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी द्रव्य के एक भी अंश को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

प्रत्येक द्रव्य में अपनी गुणात्मक स्थिति के कारण ध्रुवता है और पर्यायरूपता के कारण उसमें उत्पत्ति विनाश रूप अवस्थायें हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। गुण त्रिकालवर्ती सहभावी हैं और पर्यायें एक समयवर्ती क्रमभावी हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अनेक सहभावी गुणों का आधार है।

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दर्शन का मत सत्-असत् कार्यवादी है। इसका कारण यह है कि कि प्रत्येक पदार्थ में मूलभूत द्रव्य योग्यता के होने पर भी कुछ तत्पर्याय योग्यतायें भी होती हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी क्रमिक अवस्थाओं में अमुक उत्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय का उत्पन्न होना केवल द्रव्य योग्यता पर निर्भर नहीं है। किन्तु कारणभूत पर्याय की तत्पर्याय योग्यता पर निर्भर है। प्रत्येक द्रव्य के प्रति समय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से परिणामी होने के कारण सब व्यवस्थायें सदसत् कार्यवाद के आधार से व्यवस्थित होती हैं। क्योंकि विकसित कार्य अपने कारण में कार्य आकार से असत् होकर भी योग्यता या शक्ति रूप से सत् हैं। यदि कारण द्रव्य में यह शक्ति न हो तो उससे वह कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक-व्यवस्था व द्रव्य-व्यवस्था का रूप है। कोई ईश्वर आदि इसका निर्माता या नियामक नहीं है।

ये जीवादि द्रव्य अनेकान्तात्मक होने से प्रमेय बनते हैं। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर जैन दर्शन ने अपने चिन्तन, मनन व कथन को स्पष्ट करने के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। प्रमेयभूत पदार्थ के एक-एक अंश में नयों की प्रवृत्ति होती है तथा समग्र वस्तु का निरूपण प्रमाण द्वारा किया जाता है।

स्याद्वाद का अर्थ है—विभिन्न दृष्टिकोणों का तटस्थ बुद्धि व दृष्टि से समन्वय करना। स्याद्वाद में स्यात् शब्द का अर्थ एक अपेक्षा, अपेक्षाविशेष, कथंचित् अर्थ का द्योतक हैं और वाद का अर्थ है कथन करना अर्थात् अपेक्षाविशेष से पदार्थ में विद्यमान अन्य अपेक्षाओं का निराकरण न करते हुए भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करना। इसीलिये स्याद्वाद को पद्धति का आग्रह नहीं होता है, किन्तु सत्य प्राप्ति का आग्रह है, जहाँ भी सत्य है, उसे ग्रहण करना है।

जैनाचार्यों ने पदार्थ निरूपण के प्रसंग में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये किया है। उसके पीछे हेतु यह है कि वस्तु की अनेकान्तात्मकता अनेकान्त शब्द से भी अभिव्यक्त होती है और स्याद्वाद से भी। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता है और अनेकान्तवाद में अनेकान्त की। परन्तु दोनों का आशय समान ही है कि स्याद्वाद जिस वस्तु का कथन करता है, वह अनेकान्तात्मक, अनेक धर्मात्मक है। और स्याद्वाद द्वारा जिस वस्तु का कथन किया जा रहा है, वह वस्तु अनेकान्तात्मक, अनेक धर्मात्मक है, इसका बोध अनेकान्तवाद द्वारा होता है।

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवादपूर्वक स्याद्वाद होता है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक। स्याद्वाद कथन की निर्दोष प्रणाली है और अनेकान्तवाद निश्चित वस्तु स्वरूप का बोधक है। यह जैन दर्शन की चिन्तन प्रणाली की संक्षिप्त रूप-रेखा जानना चाहिये।

बौद्ध दर्शन—इसे सुगतदर्शन भी कहते हैं। १. सौत्रान्तिक, २. वैभाषिक, ३. माध्यमिक ४. योगाचार—ये बौद्धों के चार भेद हैं।

१. **सौत्रान्तिक** बुद्ध के सूत्रों को अधिक महत्व देते हैं। ये बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानते हैं और बाह्य व अन्तः के भेद से सब पदार्थों को दो विभागों में विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप और आन्तर चित्-चैत्य रूप हैं। इनके मतानुसार पाँच स्कन्धों को छोड़कर आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पाँचों स्कन्ध (विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, रूप) ही परलोक जाते हैं। अतीत्, अनागत्, सहेतुक, विनाश, आकाश और पुद्गल (नित्य, व्यापक आत्मा) ये संज्ञामात्र, प्रतिज्ञामात्र, संवृतिमात्र और व्यवहार मात्र हैं। तदुत्पत्ति तदाकारता से पदार्थों का ज्ञान होता है और वह प्रत्यक्ष से न होकर अन्यथा उपपत्ति रूप अनुमान से होता है। अन्यापोह (अन्य व्यावृत्ति) ही शब्द का अर्थ है। नैरात्म्य भावना से जिस समय ज्ञान संज्ञान का उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है।

२. **वैभाषिक** अभिकर्म की टीका विभाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सबसे अधिक महत्व देते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान को अस्तिरूप मानते हैं। ज्ञान-ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ, उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षयों तक अवस्थित रहता है। इसीलिए ये सर्वास्तिवादी कहलाते हैं।

३. **माध्यमिक** शून्यवादी अथवा नैरात्मक-वादी कहलाते है। इनका कथन है कि पदार्थ का निरोध, उत्पाद, उच्छेद नहीं होता है, न गमन व आगमन होता है। अतः संपूर्ण धर्म माया के समान होने से निस्स्वभाव हैं। जो जिसका स्वभाव है, वह उससे कभी अलग नहीं होता है, और अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। दृश्यमान सभी पदार्थ अपनी-अपनी हेतु-प्रत्यय सामग्री से उत्पन्न होते हैं। संपूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं। कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता है। जो पदार्थ भाव या अभाव रूप से हमें प्रतीत होते हैं, वे केवल संवृत्ति अथवा लोक सत्य की दृष्टि से प्रतीत होते हैं। परमार्थ सत्य की अपेक्षा से निर्वाण ही सत्य है। यह परमार्थ सत्य बुद्धि के अगोचर, अनभि-लाप्य अनक्षर है। अभिधेय-अभिधान से रहित है, फिर भी संसार के प्राणियों को निर्वाण का मार्ग बताने के लिए संवृत्ति सत्य का उपयोग करना पड़ता है।

४. **योगाचार** को विज्ञानवादी भी कहते हैं। इसके मत से भी सभी पदार्थ निस्स्वभाव है। विज्ञान को छोड़कर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं। अनादि वासना के कारण पदार्थों का एकत्व, अन्यत्व उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है। वास्तव में तो समस्त भाव स्वप्नज्ञान, माया और गंधर्व नगर के समान असत् हैं। परमार्थ सत्य से स्वप्रकाशक विज्ञान ही सत्य है। दृश्यमान जगत् विज्ञान का ही परिणाम है और संवृत्तिसत्य से ही दृष्टिगोचर होता है। चित्त वासना का मूल कारण है। चित्त में सम्पूर्ण धर्म कार्य रूप से उप-निबद्ध होते हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन की चार मान्यतायें हैं—

१. पाँच स्कन्धों को छोड़कर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

२. पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा प्रथक् पदार्थ है।

३. आत्मा का अस्तित्व तो है, किन्तु उसे अस्ति और नास्ति दोनों नहीं कह सकते हैं।

४. आत्मा है या नहीं, यह कहना असंभव है।

बौद्धदर्शन में प्रमाण और प्रमाण का फल भिन्न नहीं है। क्योंकि पदार्थों को जानने के सिवाय प्रमाण का कोई दूसरा फल नहीं कहा जा सकता है। इसलिए प्रमाण और उसके फल को सर्वथा अभिन्न मानना चाहिए।

प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होने के दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाती है। यदि पदार्थों का स्वभाव नष्ट होना न माना जाए तो घड़े और लाठी का संघर्ष होने पर घड़े का नाश नहीं होना चाहिये। अवयवों को छोड़कर अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है। किन्तु भ्रम के कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते हैं।

विशेष को छोड़कर सामान्य कोई वस्तु नहीं है। क्षणिक पदार्थों का ज्ञान उनके असाधारण रूप से ही होता है। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण (विशेष रूप) है।

यह बौद्धदर्शन के चिन्तन की सामान्य रूपरेखा है।

सांख्यदर्शन—शुद्ध आत्मा के तत्वज्ञान को अथवा सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन करने वाले अथवा प्रकृति पुरुष आदि पच्चीस तत्वों का वर्णन करने वाले शास्त्र को सांख्यदर्शन कहते हैं।

सांख्य वेदों व यज्ञ-यागादि को नहीं मानते हैं। तत्वज्ञान और अहिंसा पर अधिक भार देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मबहुत्ववाद और परिणामवाद को मानते हैं। प्रकृति आदि पच्चीस तत्वों का ज्ञान होने से मुक्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य और योग ये दोनों प्रायः समानतंत्रीय हैं परन्तु कतिपय भिन्नता भी हैं। सांख्य निरीश्वर सांख्य और योग सेश्वर सांख्य कहलाते हैं। इसका आशय यह है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है, किन्तु एक पुरुष विशेष को ईश्वर माना है। यह पुरुष विशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से अस्पृष्ट रहता है। सांख्य असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश नहीं मानते। चेतनत्व आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण आत्माएँ समान हैं तथा देह, इन्द्रिय, मन और शब्द में, स्पर्श आदि के विषयों में और देह आदि के कारणों में विशेषता होती है। योग सम्पूर्ण सृष्टि को पुरुष के कर्म आदि द्वारा मानते हैं। दोष और प्रवृत्ति को कर्मों का कारण बताते हैं।

सांख्यदर्शन तत्वज्ञान पर अधिक भार देता हुआ तत्वों की खोज करता है और तत्वों के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करता है। योग-दर्शन यम, नियम आदि योग की अष्टांगी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन कर योग की सक्रियात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होने से मोक्ष की सिद्धि मानता है।

सामान्य से योग के दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। पतंजलि ऋषि के योग को राजयोग तथा प्राणायाम आदि से परमात्मा के साक्षात्कार करने को हठयोग कहते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति ये योग के तीन भेद हैं तथा योगतत्व उपनिषद् में मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग यह चार भेद किये हैं।

वैशेषिक दर्शन—इस दर्शन का मूल ग्रन्थ वैशेषिक सूत्र है और आद्य प्रणेता कणाद ऋषि माने जाते हैं। वैशेषिक, इस नामकरण के सम्बन्ध में मान्यता है कि इसमें आत्मा और अनात्मा के विशेष की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और परमाणुवाद का विशेष रूप से वर्णन किया है।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों और प्रत्यक्ष व अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने अभाव को सातवाँ पदार्थ स्वीकार किया है। ये अभाव को तुच्छरूप नहीं मानते हैं।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का नाम नहीं है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वैशेषिक दर्शन अनीश्वरवादी नहीं है, किन्तु ईश्वर के विषय में मौन रहने का कारण यह है कि वैशेषिक दर्शन का मुख्य ध्येय आत्मा और अनात्मा की विशेषताओं का प्ररूपण करना रहा है।

वैशेषिक मोक्ष को निश्रेय अथवा मोक्ष नाम से कहते हैं और शरीर से सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाने पर मोक्ष मानते हैं। तथा बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार और द्वेष इन आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष का लक्षण है।

वैशेषिक पीलुपाक के सिद्धान्त को मानते हैं।

नैयायिक दर्शन—इस दर्शन के मूलप्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। न्याय सूत्र इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। अतः इसे न्याय दर्शन भी कहा जाता है। न्याय और वैशेषिक ये दोनों दर्शन समान तंत्रीय माने जाते हैं। बहुत से विद्वानों ने इस न्यायदर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिये वैशेषिक सिद्धान्तों का उपयोग किया है। फिर भी जो भिन्नतायें हैं, उनका यहाँ उल्लेख करते हैं।

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का सृष्टि कर्ता और संहारक है, वह व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ है और इसकी बुद्धि शाश्वती रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने के सम्बन्ध में मुख्य तीन युक्तियाँ हैं—

१. **कार्यकारण भाव मूलक**—जितने भी कार्य होते हैं वे किसी बुद्धिमानकर्ता की अपेक्षा रखते हैं, जैसे घट। पृथ्वी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इसलिये ये भी किसी कर्ता के बनाये हुए हैं। यह कर्ता ईश्वर ही है।

२. **सत्तामूलक**—यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होती तो हमारे हृदय में ईश्वर के अस्तित्व की भावना नहीं उपजती।

३. **प्रयोजनमूलक**—हमें सृष्टि में एक अद्भुत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। यह व्यवस्था और इसका सामंजस्य केवल परमाणु आदि के संयोग का फल नहीं, इसलिये अनुमान होता है कि कोई ऐसी शक्तिशाली महान शक्ति अवश्य है, जिसने इस सृष्टि की रचना की है।

नैयायिक प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्वों के ज्ञान से दुःख का नाश होने पर मुक्ति मानते हैं और मोक्ष के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग करते हैं।

नैयायिक दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) इन चार प्रमाणों को माना है। आगम के रूप में वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार किया है। अर्थापत्ति, संभव और एतिह्य आदि का प्रत्यक्ष, अनुमान आदि उक्त चार प्रमाणों अन्तर्भाव किया है। नैयायिक दर्शन पिठरपाक के सिद्धान्त को मानता है।

मीमांसादर्शन—इसके आद्य प्रस्तावक जैमिनी ऋषि माने जाने से इसे जैमिनीय दर्शन भी कहते है। यह दर्शन उपनिषदों के पूर्ववर्ती वेद को प्रमाण मानता है। यह मान्यता प्राचीन है। इसलिये इस मान्यता वाले पूर्वमीमांसक कहलाते हैं। ये धूम-मार्ग के अनुयायी हैं। यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके स्वर्ग प्राप्ति को ही अपना मुख्य कार्य समझते हैं। वैदिकी हिंसा को हिंसा नहीं मानते हैं।

किन्तु अर्वाचीन मीमांसक पूर्वोक्त मान्यताओं के विरोधी हैं। ये वेदों के उत्तरवर्ती उपनिषदों के आधार पर से अपने सिद्धान्तों के प्ररूपक होने से उत्तरमीमांसक वेदान्ती या ज्ञानमीमांसक कहलाते हैं। इनके भी प्रमुख दो भेद हैं—भाट्ट (कुमारिल भट्ट) मीमांसक और प्राभाकर (प्रभाकर) मीमांसक। वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं।

भाट्ट प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को और प्राभाकर अभाव को प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य मान कर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।

पूर्वमीमांसकों का मत है कि वेद ही प्रमाण और अपौरुषेय हैं क्योंकि कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता है। धर्म का ज्ञान वेद वाक्यों की प्रेरणा (मोदना) से ही होता है। उपनिषद भी वेद वाक्यों के समर्थक हैं। अतः वेदों को ही प्रमाण मानना चाहिए तथा वेदों का कोई कर्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है। जिन शास्त्रों का कोई कर्ता देखा जाता है, उनको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इसलिए अपौरुषेय होने के कारण वेद ही प्रमाण हैं, वेद नित्य हैं, अबाधित हैं, और धर्म के प्रतिपादक होने से ज्ञान के साधन में तथा अपौरुषेय होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं।

वेद शब्दात्मक हैं, इसलिए जैसे वेद नित्य और अपौरुषेय हैं, वैसे ही शब्द भी नित्य व सर्वव्यापक है। शब्द को नित्य मानने का कारण यह है कि एक स्थान पर प्रयुक्त गकार आदि वर्णों का उसी रूप में सर्वत्र ज्ञान होता है तथा एक शब्द का एक बार संकेत ग्रहण कर लेने पर कालान्तर में भी उसी संकेत से शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर को सृष्टि व संहार कर्ता न मानने के बारे में मीमांसकों का मन्तव्य है कि अपूर्व ही यज्ञ आदि का फल देने वाला है। अतः ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं माना जा सकता है। वेदों को बनाने के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, वे तो अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण है।

मीमांसा दर्शन में पहले नहीं जाने हुए पदार्थों के जानने को प्रमाण का लक्षण माना है, तथा स्मृति ज्ञान के अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञान स्वतः प्रमाण है। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही हमें पदार्थों का ज्ञान (ज्ञप्ति) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्ति में और पदार्थों के प्रकाश करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है।

मीमांसा दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को माना है तथा उसे शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न मानकर आत्मबहुत्ववाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। कुमारिल ने आत्मा को कर्ता, भोक्ता, ज्ञान शक्ति वाला, नित्य, विभु, परिणामी और अहंप्रत्यय का विषय माना है। प्रभाकर ने आत्मा को कर्ता, भोक्ता और विभु स्वीकार करके भी आत्मा में परिवर्तन नहीं माना है, इनके मत से आत्मा ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते हैं, इसलिए आत्मा कभी स्वसंवेदन का विषय नहीं हो सकती है। यदि स्वसंवेदक माना जाये तो गाढ़ निद्रा में भी ज्ञान मानना चाहिए।

मीमांसा दर्शन में मोक्ष पुरुषार्थ की मान्यता अर्वाचीन आचार्यों की देन है। प्राचीन आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों को मानकर धर्म को ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया है। वे धर्म को सम्पूर्ण सुखों का कारण मानकर स्वर्ग की प्राप्ति करना ही अन्तिम ध्येय समझते थे।

प्रभाकर संसार के कारण भूतकालीन धर्म और अधर्म के नाश होने पर हमारे शरीर के आत्यन्तिक रूप से नाश होने को मोक्ष कहते हैं। जिस समय शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा आत्मज्ञान होने से देह का अभाव हो जाता है, उस समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि निर्गुण आत्मा में आनन्द नहीं रह सकता है।

कुमारिल के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति की अवस्था ही मोक्ष है। कुमारिल भी मोक्ष को आनन्द रूप नहीं मानते हैं।

यह मीमांसा के चिन्तन की रूपरेखा है।

उपसंहार रूप में यह जानना चाहिए उपर्युक्त समग्र कथन भारतीय दर्शनों के चिन्तन-सिन्धु का बिन्दु और इस बिन्दु का भी शतांश भाग जैसा है। पाठकगण इस अंश को पढ़कर समग्र दर्शन साहित्य का अध्ययन करने की ओर प्रयत्नशील हों यही अपेक्षा है। क्योंकि यहाँ बहुत ही आवश्यक अंश का वर्णन नहीं भी किया जा सका है। किन्तु सुविधानुसार विस्तार से भारतीय दर्शनों के चिन्तन को प्रस्तुत करने की आकांक्षा है।

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन के चिन्तन की धारा अपनी-अपनी है। परन्तु देखा जाय तो सत्य एक है, परन्तु प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और काल की परिस्थिति के अनुसार सत्य के अंश मात्र को ग्रहण करता है। परन्तु ध्येय सबका एक है—पूर्ण सत्य की उपलब्धि। अध्यात्मयोगी आनन्दघन ने इसी मन्तव्य को सरल सुगम शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—

षट दरसन जिन अंग भणीजे,
न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक,
षट्दर्शन आराधे रे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

❋

जीने के दो तरीके हैं—अंगार और राख।

तुम्हें जीना है तो अन्तरंग की उष्मा को बनाये रखो, अंगार की तरह तेजस्वी और प्रकाशमान बनकर जीओ ! राख की तरह निस्तेज, रूक्ष और मलिन बनकर नहीं !

❋

जीवन एक दर्पण है, दर्पण के सामने जैसा विम्ब आता है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में अवश्य पड़ता है, जब आप दूसरों के दोषों का दर्शन करेंगे, चिन्तन और स्मरण करेंगे तो उनका प्रतिबिम्ब आपके मनोरूप दर्पण पर अवश्य चित्रित होता रहेगा। प्रकारान्तर से वे ही दोष चुपचाप आपके जीवन में अंकुरित हो जायेंगे।

इसीलिए भगवान महावीर का यह अमरसूत्र हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए—"**संपिक्खए अप्पगमप्पएण**" सदा अपने से अपना निरीक्षण करते रहना चाहिए। दृष्टि को मूँदकर अन्तर्दृष्टि से देखना चाहिए। आत्मा का अनन्त सौन्दर्य दिखलाई पड़ेगा।

❋

जीवन के चार स्तर हैं—

जो विकार व वासनाओं का दास है—वह पशु है।

जो विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है—वह मनुष्य है।

जिसने विकारों पर यत्किंचित् विजय प्राप्त करली—वह देव है।

जो सम्पूर्ण विकारों पर विजय प्राप्त कर चुका—वह देवाधिदेव है।

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org